आदि शंकराचार्य का जीवन व उनके उपदेश

भाग २

जोएल दुबुआ द्वारा लिखित व्याख्या

सिद्धयोग पथ पर, बाबा मुक्तानन्द ने आदि शंकराचार्य के वेदान्त-उपदेशों का अध्ययन कर उन्हें प्रगाढ़ रूप से आत्मसात् किया। ये उपदेश उन्हें दक्षिण भारत के हुबली में स्थित, सिद्धारूढ स्वामी के आश्रम में, अपने आरम्भिक शिक्षकों से प्राप्त हुए। तत्पश्चात्, वर्षों तक विश्वभर में अपनी सिखावनियाँ प्रदान करते हुए, बाबा जी ने स्वयं अपने प्रवचनों में इन उपदेशों को समाविष्ट किया। गुरुमाई चिद्विलासानन्द ने बारम्बार सिद्धयोगियों का ध्यान इस मूल सिखावनी की ओर आकृष्ट किया है कि जिस लक्ष्य की हम खोज कर रहे हैं, वह स्वयं हम ही हैं। बाबा जी व गुरुमाई जी, दोनों ने 'सोऽहम्' [मैं वह हूँ] मन्त्र के जप द्वारा इन सच्चाइयों को आत्मसात् करने हेतु साधकों का मार्गदर्शन किया है। शंकराचार्य के उपदेशों का यह प्रसार जो आज तक हो रहा है, उनके शिष्यों और उनके अनुयायियों की आगामी पीढ़ियों के साथ आरम्भ हुआ था, जिनके बारे में आइए अब हम जानें।

शास्त्रार्थ और प्रथम शिष्य

'शंकरदिग्विजय' नामक शंकराचार्य की सर्वप्रमुख जीवनी में वर्णन किया गया है कि अपने काल के बहुत-से ब्राह्मण विद्वानों के साथ इन महागुरु ने अनेक शास्त्रार्थ किए। इन विद्वानों में 'वेदान्तसूत्रों' के रचयिता ऋषि व्यास और शंकराचार्य के गुरु के गुरु, गौड़पाद भी थे जो अपनी कृतियों पर शंकराचार्य द्वारा लिखे भाष्यों के विषय में प्रश्न करने हेतु सूक्ष्मलोक से प्रकट हुए थे तथा वे तब तक प्रश्न करते रहे जब तक कि वे सन्तुष्ट नहीं हो गए। शंकराचार्य उस समय मात्र सोलह वर्ष के थे। कहा जाता है कि व्यास जी ने उन्हें और सोलह वर्ष की आयु प्रदान की ताकि वे भारतभर में अपनी सिखावनियों का प्रसार कर सकें।

इन जीवनी-लेखक के अनुसार शंकराचार्य ने उस समय के उन अनेक विद्वानों के साथ भी अनेक शास्त्रार्थ किए जिनके साथ उनके वेद-सम्बन्धी ज्ञान के विषय में मतभेद थे। इनमें से उल्लेखनीय हैं, कर्मकाण्डी विद्वान, मण्डन मिश्र। 'शंकरदिग्विजय' के मुख्य तीन अध्याय शंकराचार्य के साथ उनके शास्त्रार्थ पर ही आधारित हैं। उस समय मण्डन मिश्र का मत था कि वेद सर्वप्रथम व सर्वप्रमुख हैं, जो

यज्ञों व ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों के लिए निर्देश प्रदान करते हैं। जैसा कि इस व्याख्या के प्रथम भाग में बताया गया है, एक ब्राह्मण उपासना द्वारा ब्रह्म अर्थात् समस्त वस्तुओं के स्रोत व आधार, परम आत्मा को जान सकता है; दूसरे शब्दों में कहें तो उपनिषदों के अनुसार, एक ब्राह्मण यह धारणा कर ब्रह्म को जान सकता है कि किसी अनुष्ठान में उपयोग में लाए जाने वाली सामग्री व प्राकृतिक तत्त्व, सभी पावन हैं। तथापि, मण्डन मिश्र के अनुसार, अनुष्ठानों या कर्मकाण्डों के अतिरिक्त, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का अन्य कोई साधन नहीं है।

शंकराचार्य ने मण्डन मिश्र व अन्य विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ चाहे प्रत्यक्ष रूप में किए हों अथवा नहीं, सहस्राब्दियों से आज तक, ब्राह्मणों ने एकत्र होकर परम्परागत उपदेशों पर आपत्तियाँ उठाकर उनका खण्डन किया है; और शंकराचार्य के भाष्य इन वाद-विवादों को प्रतिबिम्बित करते हैं जो कि प्रायः नाटकीय-से प्रदर्शन प्रतीत होते हैं। अपने भाष्य में शंकराचार्य जहाँ भी कर्मकाण्ड का सन्दर्भ देते हैं, वहाँ वे मण्डन मिश्र के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं और फिर बार-बार तथा निर्णयात्मक रूप से उसका खण्डन करते हैं। शंकराचार्य प्रबल तर्क प्रस्तुत करते हैं कि उपनिषदों के महावाक्य स्वतन्त्र सामर्थ्ययुक्त मन्त्र हैं जिनमें साधकों को जाग्रत करने की शक्ति निहित है और जिनका वैदिक कर्मकाण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार, अपने शिष्यगण को आत्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनाने हेतु, सिद्धयोग के गुरुजन अपने शिष्यों को अपनी कृपाशक्ति से अनुप्राणित, चैतन्य मन्त्र प्रदान करते हैं जिनमें ऐसी स्वतन्त्र सामर्थ्य है जो कि किसी भी अनुष्ठान पर निर्भर नहीं।

मण्डन मिश्र का मत आठवीं शताब्दी के ब्राह्मण समुदायों में अत्यन्त प्रचलित था जहाँ शंकराचार्य उपदेश देते थे, तथापि आगामी शताब्दियों में शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित दर्शन व्यापक रूप से अधिक प्रामाणिक माना जाने लगा। 'शंकरदिग्विजय' में इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को नाटकीय रूप में दर्शाया गया है जिसमें मण्डन मिश्र की पराजय को चित्रित किया गया है, और यह वाद-विवाद मण्डन मिश्र की अर्धांगिनी की मध्यस्थता में हुआ था जो कि ज्ञान व विद्या देवी सरस्वती की अवतार मानी जाती थीं। इस वृत्तान्त के अनुसार, शास्त्रार्थ में पराजित होने के पश्चात् मण्डन मिश्र ने संन्यास ले लिया और वे 'सुरेश्वर' के नाम से, शंकराचार्य के प्रमुख शिष्य बने। यद्यपि मण्डन मिश्र व सुरेश्वर सम्भवतः भिन्न-भिन्न कालखण्ड व स्थानों में हुए, तथापि यह चित्रण हमें तेज़ी-से हुए उस परिवर्तन को स्पष्टतः बताता है कि आठवीं शताब्दी के ब्राह्मण समुदाय का दृष्टिकोण जो वैदिक कर्मकाण्डों को ही प्रधान मानता था, एक ऐसे दृष्टिकोण में परिवर्तित हुआ जो ब्रह्म का स्वरूप जानने के लिए कर्मकाण्ड को गौण मानता था। सुरेश्वर रचित 'नैष्कर्म्य सिद्धि' में यह प्रत्यक्ष रूप से उद्धृत किया गया है कि किस प्रकार पुराना मत, अनेक पहलुओं में मण्डन मिश्र के साथ सम्बन्धित है और शंकराचार्य की ही तरह यह पूर्ण रूप से उसका खण्डन करता है। सुरेश्वर ने शंकराचार्य द्वारा

बृहदारण्यकोपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् पर रचित भाष्यों पर पद्यरूप में 'वार्तिक' लेखन भी किया। उनकी ये रचनाएँ शंकराचार्य की मूल बृहत् कृतियों से कहीं अधिक बृहदाकार थीं; उनका यह प्रचुर लेखन यही दर्शाता है कि शंकराचार्य की कृतियों का गहन अध्ययन किया जाना चाहिए।

उपदेश-अभियान तथा बाद के शिष्यगण

सुरेश्वर के अतिरिक्त, शंकराचार्य के दो अन्य ब्राह्मण-शिष्यों का उल्लेख जीवनी-लेखक करते हैं जिन्होंने स्वयं अपनी व्याख्याओं की रचना कर, अपने श्रीगुरु के उपदेशों का प्रसार करने में सहयोग किया। पद्मपाद व तोटक, शंकराचार्य की स्तुति में कहते हैं कि वे ऐसे महात्मा हैं "जिन्होंने काल के समस्त चिह्नों को मिटा दिया है,"[१] जो स्वयं ही "ज्ञान के महिमामय सूर्य का तेज"[२] थे। पद्मपाद और तोटक, दोनों ही ने वेदान्तसूत्र पर शंकराचार्य द्वारा लिखित भाष्य के पहलुओं पर प्रकाश डाला है और उनका विश्लेषण किया है।

सुरेश्वर अनुभवी व निपुण थे और कर्मकाण्ड तथा शास्त्रार्थ में प्रशिक्षित थे; परन्तु, ऐसा कहा जाता है कि पद्मपाद को समस्त आसक्तियों का त्याग करने और मुक्ति पाने की अपनी ललक के कारण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ था। वाराणसी में शंकराचार्य के निवासकाल के दौरान पद्मपाद प्रथम शिष्य थे जो शंकराचार्य के पास आए और तत्काल ही उन्हें संन्यास दीक्षा प्राप्त हुई। 'शंकरदिग्विजय' में वर्णन मिलता है कि उन्हें पद्मपाद नाम किस प्रकार प्राप्त हुआ : जब शंकराचार्य ने उन्हें पुकारा तब वे गंगा नदी के दूसरे तट पर थे। अपने गुरु की पुकार सुनते ही वे पानी पर चलने लगे और उन्होंने जहाँ-जहाँ क़दम रखे, वहाँ-वहाँ उन्हें सहारा देने हेतु पद्म यानी कमल-पुष्प उग आए। इससे इस शिष्य का अपने श्रीगुरु पर पूर्ण विश्वास प्रदर्शित होता है। इस कथा की सत्यता जो भी हो, वेदान्तसूत्रों के पहले चार सूत्रों पर शंकराचार्य के भाष्य पर पद्मपाद ने जो विवरण लिखा, उससे शंकराचार्य के उपदेशों के प्रति उनकी एकनिष्ठ श्रद्धा झलकती है।

तोटक जी के विषय में देखें तो कहा जाता है कि उन्हें विद्वत्तापूर्ण व्याख्याएँ लिखने की क्षमता शंकराचार्य की एकनिष्ठ सेवा करने के फलस्वरूप प्राप्त हुई थी। 'शंकरदिग्विजय' में उस प्रसंग का वर्णन किया गया है कि जब शंकराचार्य के एक शिष्य ने तोटक को मूढ़ कहकर उनकी उपेक्षा की, तब शंकराचार्य ने सहज ही तोटक के अन्दर समस्त वैदिक विषयों के ज्ञान को जाग्रत कर दिया। इसके परिणामस्वरूप तोटक भक्तिमय श्लोकों व उपदेशों का उच्चारण करने लगे जो 'तोटक' नामक जटिल छन्द में रचित थे। वेदान्त का सार प्रकट करने वाले तोटक द्वारा रचित श्लोक ऋषि उद्दालक के महावाक्य, 'तत्त्वमसि' ['तुम वह हो'] पर केन्द्रित हैं और यह समझाते हैं कि गुरु व शिष्यों के

बीच हुए संवाद को विनम्रता के साथ सुनकर तोटक को अन्तर-प्रेरणा मिली और इस प्रकार श्रवण करना 'श्रुति [वेदों का श्रवण करने] के समान ही था।'[३]

'शंकरदिग्विजय' में उनके चौथे शिष्य, हस्तामलक का वर्णन है। कहा जाता है कि जब वे सात वर्ष के थे तब उनके पिता उन्हें शंकराचार्य के पास ले आए थे क्योंकि उनके पिता की यह शिकायत थी कि उनका पुत्र मूढ़ है और न ही वह कुछ बोलता है। उस बालक से मिलने पर जब शंकराचार्य ने प्रसन्नता व्यक्त की तब बालक हस्तामलक ने उठकर बारह श्लोक कहे जिनसे उनकी 'निजबोधयुक्त' अवस्था यानी आत्मबोध की स्थिति प्रकट हुई। ये श्लोक आज भी 'हस्तामलकस्तोत्रम्' के रूप में उपलब्ध हैं। ऐसी मान्यता है कि इस स्तोत्र की व्याख्या शंकराचार्य ने की है जो अब इस स्तोत्र के साथ ही प्रदान की जाती है।[४] बाद में एक अन्य शिष्य ने, समस्त वेदान्तदर्शन पर हस्तामलक के प्रभुत्व का वर्णन करते हुए कहा कि वे ऐसे थे मानो उन्होंने अतीव औषधीय गुणों से युक्त रसपूर्ण आँवले [आमलक] को अपने हाथ [हस्त] में पकड़ रखा हो और यही उनके नाम का अर्थ है, 'वे जो अपने हाथ में आमलक को पकड़े हुए हैं।' और 'शंकरदिग्विजय' में शंकराचार्य के इस कथन का उल्लेख किया गया है कि हस्तामलक को लेखन करने के लिए न कहा जाए क्योंकि वे ब्रह्मबोध में लीन रहते थे और उन्हें व्याख्याओं की जटिलताओं में कोई रुचि नहीं थी। हस्तामलक के श्लोकों पर लिखी व्याख्या इस बात की ओर इंगित करती है कि शंकराचार्य ने निःसंकोच व सहज ही उन्हें स्वीकार किया तथा उनका सम्मान किया जिन्होंने औपचारिक प्रशिक्षण के बिना ब्रह्मविद्या प्राप्त की। सिद्धयोग पथ पर, भगवान नित्यानन्द इसी प्रकार के निजबोध में स्थित इस आदर्श महान विभूति के मूर्तरूप हैं।

उपदेश-विधियाँ और शिष्यगण के साथ संवाद

'उपदेशसहस्री' [एक हज़ार उपदेश] में शंकराचार्य, गुरु-शिष्य के बीच प्रत्यक्ष रूप में होने वाले दो प्रकार के संवादों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं, जो कदाचित् शंकराचार्य व उनके शिष्यों के बीच हुए विविध वार्तालापों की विशेषता को दर्शाता है। पहला संवाद वे निर्देश हैं जो एक संन्यासी को उपनिषदों के प्रमुख श्लोकों का अध्ययन करने में मार्गदर्शित करते हैं जिनमें सम्मिलित हैं, 'तत्त्वमसि' ['तुम वह हो'] और 'नेति नेति' [____नहीं ____नहीं]।[५] जब शिष्य इन्हें सीख चुका हो और उसमें मुमुक्षुत्व यानी मोक्ष की लालसा के संकेत दिखाई देते हैं, तब श्रीगुरु उससे प्रश्न करते हैं, "तुम कौन हो?" और तत्पश्चात् श्रीगुरु, शिष्य को क्रमिक रूप से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर वाक्यों से परिचित कराकर उसका मार्गदर्शन करते हैं ताकि शिष्य यह जान सके कि उसकी सच्ची पहचान क्या है।[६] यह उदाहरण दर्शाता है कि कुछ शिष्य सम्भवतः शंकराचार्य की प्रतिभा से प्रभावित होते थे, परन्तु शंकराचार्य जो सिखाते थे उसे ग्रहण करने के लिए वे पूरी तरह से तैयार नहीं थे, इसी कारण उन्हें

क़दम-दर-क़दम निर्देश देकर मार्गदर्शित करने की आवश्यकता होती थी ताकि वे उच्चतर बोध को प्राप्त कर सकें। यह पहला संवाद निस्सन्देह कई सिद्धयोग विद्यार्थियों के सीखने के तरीक़े से मेल खाता है, जिन्हें श्रीगुरु द्वारा क़दम-दर-क़दम मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है, हालाँकि उनमें से कुछ विद्यार्थियों ने औपचारिक तौर पर संन्यास दीक्षा भी ग्रहण की है।

दूसरी ओर, 'उपदेशसहस्री' में गुरु-शिष्य के बीच जो दूसरे प्रकार के संवाद का वर्णन मिलता है, वह यह बताता है कि कुछ विद्यार्थियों के मन में मोक्ष के लिए तीव्र उत्कण्ठा कदाचित् पहले से ही प्रज्वलित थी, और वेदान्त की सिखावनियों का गहन अध्ययन कर वे उन सिखावनियों में निमग्न थे। इस प्रकार के संवाद में, ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मचारी वेद-विद्यार्थी ने पहले से ही वेदान्त के सभी उपदेशों के सार का अध्ययन कर उन्हें आत्मसात् कर लिया है, और वह एक 'ब्रह्मज्ञानी' गुरु के पास आकर विनयपूर्वक यह अनिवार्य प्रश्न पूछता है, "मैं जागृति व स्वप्न, दोनों अवस्थाओं में अनुभव होने वाले दुःख से छुटकारा कैसे पाऊँ? इस दुःख का मूल कारण क्या है और इसका निवारण किस प्रकार किया जा सकता है?" इस संवाद में, श्रीगुरु, शिष्य को ऐसी विस्तृत प्रक्रिया में मार्गदर्शित करते हैं जिसमें वह शिष्य परमात्मा के स्वरूप के विषय में उठने वाले समस्त सन्देहों पर चिन्तन-मनन करे और इसके फलस्वरूप उसके वे समस्त सन्देह मिट जाएँ। इस प्रक्रिया के समापन पर शिष्य स्वयं ही अपने शब्दों में आत्मबोध का वर्णन शुद्ध चिति के रूप में करता है और श्रीगुरु उसकी पुष्टि करते हैं।[७] दिलचस्प बात यह है कि वेदाध्ययन करने वाले इस ब्रह्मचारी शिष्य ने जो सुना होता है, उसके अर्थ पर वह और भी गहराई से व अधिक सक्रियता से अन्वेषण करता है जिससे एक ऐसे सच्चे संवाद का आरम्भ होता है जो गुरु और उस ब्रह्मचारी के बीच के संवाद की तुलना में तीन गुना लम्बा चलता है। निस्सन्देह, अपने भाष्यों में, शंकराचार्य भले ही कहते हैं कि संन्यास दीक्षा ग्रहण करना, ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में अति महत्त्वपूर्ण सम्बल सिद्ध हो सकता है, साथ ही वे यह भी मानते हैं कि कई लोगों के लिए यह वह अन्तिम चरण हो सकता है जो लक्ष्य प्राप्ति का सूचक है। रोचक बात यह है कि 'शंकरदिग्विजय' में तोटक या हस्तामलक के संन्यासी होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता, जिसका अर्थ यह है कि उन्होंने एकनिष्ठ ब्रह्मचारी शिष्यों के रूप में अपने श्रीगुरु की सेवा की और वे स्वयं आचार्य भी बने।

शंकराचार्य की धरोहर और परलोकगमन

शंकराचार्य के प्रथम शिष्यगण द्वारा तथा चौदहवीं शताब्दी में रचित 'शंकरदिग्विजय' में शंकराचार्य का वर्णन मुख्यतः एक गुरु के रूप में किया गया है। तथापि, कालान्तर में, वेदान्त पर शंकराचार्य के उपदेश और उनके शिष्यों ने जिन अभ्यासों का प्रचार किया, वे सब अध्ययन व आचार-संहिता के मानक बन गए जिनके आधार पर संन्यास परम्पराओं को सुव्यवस्थित रूप दिया जा सके। इसलिए

प्रतीकात्मक रूप से कहा जाए [जैसा कि आज कई लोग कहते हैं] तो शंकराचार्य ने उन परम्पराओं को स्थापित किया। दूसरी सहस्राब्दी के मध्य तक, शंकराचार्य के वेदान्तदर्शन से जुड़ी संन्यास परम्पराएँ 'दशनामी' [दस नाम] सम्प्रदाय के नाम से जानी जाने लगीं। इनमें अधिकतर परम्पराओं के नाम प्रकृति के उन तत्त्वों से जुड़े हैं जिनके बीच उस परम्परा के संन्यासी भ्रमण करते थे, जैसे कि गिरि [पर्वत], अरण्य [वन], सागर [समुद्र] और तीर्थ [नदियों का संगम]। बाबा जी और गुरुमाई जी जिस संन्यास परम्परा में दीक्षित हैं वह है, 'सरस्वती' परम्परा जिसकी स्थापना मूल रूप से शंकराचार्य द्वारा की गई थी। सिद्धयोग के स्वामीगण भी इसी परम्परा में दीक्षित हैं।

ब्राह्मण-गृहस्थ और वेदाध्ययन करने वाले शिष्यगण भी शंकराचार्य के उपदेशों में समान रूप से रुचि रखते थे। जिस प्रकार शंकराचार्य ने उपनिषदों के महावाक्यों की सामर्थ्य पर बल दिया और यह प्रतिपादित किया कि ये महावाक्य यज्ञों व अन्य वैदिक अनुष्ठानों पर निर्भर नहीं हैं, उसी प्रकार जो ब्राह्मणजन शंकराचार्य के वेदान्तदर्शन का अनुसरण कर रहे थे, उन्होंने भी इन कर्मकाण्डों के अतिरिक्त अपनी ही परम्पराओं की स्थापना की। अतः, प्रतीकात्मक रूप से शंकराचार्य को ऐसी ब्राह्मण-परम्पराओं का संस्थापक या सुधारक भी माना जा सकता है जिसका पालन करने वाले ब्राह्मणों को 'स्मार्त ब्राह्मण' कहा जाता है क्योंकि उनका केन्द्रण 'स्मृति' पर होता है—जिसमें वे वैदिक अनुष्ठानों एवं स्तोत्रपाठों के अतिरिक्त, उपदेशों, कथाओं और भक्ति परम्पराओं का भी प्रसार करते हैं। यद्यपि स्मार्त ब्राह्मणों ने अपनी-अपनी परम्पराओं के वेद कण्ठस्थ तो कर लिए थे, तथापि उन्होंने भगवान विष्णु, भगवान शिव, देवियों व अन्य देवताओं की पूजा को भी अपनी उपासना-विधियों में सम्मिलित किया।

शंकराचार्य के बाद की शताब्दियों में, उनकी परम्परा के प्रमुख शिक्षकों ने शिक्षा के कई केन्द्रों यानी मठों की स्थापना की जिन्हें 'विद्यापीठ' भी कहा जाता है और जहाँ विद्यार्थियों ने—गृहस्थ एवं संन्यासियों ने समान रूप से—शंकराचार्य की सिखावनियों का अध्ययन किया व उनका प्रचार-प्रसार किया। इनमें से कई गुरुजनों को 'अभिनव शंकर' [नवीन शंकर] या शंकराचार्य [आदि शंकराचार्य की परम्परा के शिक्षक] के नाम से जाना गया। भारत में ब्रिटिश राज के आने तक, मठों का समर्थन करने वाले स्मार्त ब्राह्मण चार मठों को मुख्य मानने लगे—इनमें से एक-एक मठ, चार मुख्य दिशाओं में प्रमुख तीर्थस्थलों में स्थित महत्त्वपूर्ण मन्दिर के निकट था। इनमें से हरेक मठ अब शंकराचार्य के चार मुख्य शिष्यों और चार वेदों में से एक-एक से जुड़ा है। वे इस प्रकार हैं :

- पूर्व—उड़ीसा में पुरी मठ, जोकि पद्मपादाचार्य एवं ऋग्वेद से जुड़ा है
- उत्तर—उत्तराखण्ड में ज्योतिर्मठ, जोकि तोटकाचार्य एवं अथर्ववेद से जुड़ा है

- पश्चिम—गुजरात में द्वारका मठ, जोकि हस्तामलकाचार्य एवं सामवेद से जुड़ा है
- दक्षिण—कर्नाटक में शृंगेरी मठ, जोकि सुरेश्वराचार्य एवं यजुर्वेद से जुड़ा है

कुछ स्मार्त ब्राह्मण आज तामिलनाडु स्थित काँची मठ को भी पाँचवा मठ मानते हैं जहाँ के शंकराचार्य आज के आधुनिक युग में अत्यधिक प्रभावशाली रहे हैं।

इस क्रमिक विकास के बाद के समय के दौरान, 'विवेकचूडामणि' और 'आत्मबोध' जैसे शंकराचार्य के वेदान्त-उपदेशों के श्लोकों के साररूप का, वेदान्त अध्ययन मठों व उनका समर्थन करने वाले स्मार्त ब्राह्मण समुदायों में प्रसार होने लगा। ये संक्षिप्त ग्रन्थ, गहन मुमुक्षुत्व रखने वाले शिष्य के प्रति एक करुणामय गुरु के उत्तरों के रूप में थे। इनका ऐसा प्रारूप होने के कारण, उन शिष्यों के लिए यह अध्ययन सरल हो गया जिन्होंने उपनिषद्कालीन ऋषि-मुनियों के महावाक्यों को समझने के लिए वेदों का गहराई से अध्ययन नहीं किया था, जिनका विवेचन शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अध्यारोपण व उसके विलीन होने के उपदेशों के आधार पर किया गया हो। यूरोप व भारत के विद्वज्जन समानरूप से बताते हैं कि इन कृतियों की लेखनशैली व इनके सिद्धान्त, बाद के समय के शंकराचार्यों से अधिक मेल खाते हैं, परन्तु आज इन वेदान्तलेखों को आम तौर पर आदि शंकराचार्य द्वारा रचित माना जाता है।

इसी प्रकार, जैसे-जैसे वेदान्त परम्परा का प्रसार होता गया, वैसे-वैसे आठवीं शताब्दी में हुए आदि शंकराचार्य द्वारा रचित, और विशेषकर बाद के शंकराचार्यों द्वारा सम्मानित, विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियों का भी व्यापक रूप से प्रसार होने लगा। 'भज गोविन्दं' और 'गुरोरष्टकम्' जैसे स्तोत्रों में इस बात पर बल दिया गया है कि संसार की वस्तुओं तथा विषयों से अनासक्त होने के लिए भक्ति का विकास होना अत्यावश्यक है। 'अन्नपूर्णास्तोत्रम्' और 'श्रीशिवमानसपूजा' जैसी अन्य स्तुतियाँ उन देवी-देवताओं का गुणगान करती हैं जिनकी पूजा-अर्चना सामान्यतः स्मार्त सम्प्रदाय में की जाती है। और 'निर्वाणषट्कम्' जैसे अन्य स्तोत्रों में एक शक्तिपूर्ण ध्रुवपद, 'शिवोऽहं शिवोऽहम्' ['मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ'!] द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि उपासक और परमात्मा यानी ब्रह्म, दोनों एक ही हैं। विशिष्ट अवसरों पर ये स्तोत्र सिद्धयोग सत्संगों में गाए जाते हैं।

शंकराचार्य के जीवनी-लेखक ऐसे कई वृत्तान्त प्रस्तुत करते हैं जिनमें इन महान वेदान्तगुरु के जीवन के अन्तिम दिनों का वर्णन है। 'शंकरदिग्विजय' में बताया गया है कि विरोधी मत के व्याख्याकारों के साथ अन्तिम बार शास्त्रार्थ करने के पश्चात् शंकराचार्य 'सर्वज्ञपीठ' पर आसीन हो गए और फिर उन्होंने हिमालय पर आरोहण किया जहाँ ऋषि-मुनि व दिव्यात्माएँ अलौकिक रथों पर आरूढ़ होकर आए और उन्हें दिव्यलोक ले गए। अन्य जीवनी-लेखकों का कहना है कि शंकराचार्य अपने निवास-

स्थान, दक्षिण भारत लौटे जहाँ वे एक प्रसिद्ध मन्दिर के देवता में विलीन हो गए, या फिर बताते हैं कि वे अपनी यात्राएँ करते रहे। शंकराचार्य का अन्तिम समय जैसा भी रहा हो, ऐसा दृढ़ता से प्रतीत होता है कि अपने अन्तिम काल में वे उपनिषदों में वर्णित उस सत्य में शारीरिक व मानसिक रूप से निमग्न थे जिसका अध्ययन उन्होंने जीवन पर्यन्त किया था और फिर वे उसी सत्य में, परमतत्त्व में लीन हो गए जिसका अस्तित्व सदा रहा है और सदा रहेगा।

सिद्धयोग के गुरुओं की सिखावनियों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के रूप में, हमारे लिए, इस व्याख्या के समापन पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है : वेदान्त के जो महान सत्य हमें प्रदान किए गए हैं उनका श्रवण करने, उन पर मनन करने व उन पर एकाग्र होकर सूक्ष्मता से ध्यान देने के लिए आदि शंकराचार्य ने जो प्रोत्साहन दिया है, उसके प्रत्युत्तर के रूप में हम उसे किस प्रकार कार्यान्वित करें?

© २०२३ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन®। सर्वाधिकार सुरक्षित।

---

[१] पञ्चपादिका, श्लोक ३, Rājasevāsakta D. Venkataramiah द्वारा भाषान्तरित, *The Pañcapādika of Padmapāda* [बरोड़ा : Oriental Institute, १९४८], १२ अगस्त, २०२२ को सन्दर्भ लिया गया। https://archive.org/details/Panchapadika.of.Padmapada.In.English/page/n45/mode/2up

[२] तोटकाचार्य द्वारा रचित तोटकाष्टम्, श्लोक ६, १२ अगस्त, २०२२ को सन्दर्भ लिया गया https://shlokam.org/totakastakam; अंग्रेज़ी भाषान्तर © २०२२ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन।

[३] तोटकाष्टम्, श्लोक १७५; Michael Comans द्वारा भाषान्तरित, *Extracting the Essence of Śruti: The Śrutisārasamuddharaṇam of Toṭakācārya* [दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, १९९६]।

[४] हस्तामलकस्तोत्रम्, १२ अगस्त, २०२२ को सन्दर्भ लिया गया
https://sanskritdocuments.org/doc_yoga/hastaam.html;
अंग्रेज़ी भाषान्तर © २०२२ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन।

[५] दूसरे कथन के रिक्त स्थानों के लिए, भाग १ देखें।

[६] उपदेशसहस्री २.१; भाषान्तर : Sengaku Mayeda, *A Thousand Teachings: The Upadeśasahasrī of Śaṅkara* [आल्बनी : SUNY Press, १९९२], पृ. २११-२७।

[७] उपदेशसहस्री २.२, Mayeda, *A Thousand Teachings*, पृ. २३४-४८।